कहेंगे—ड्रीम्स एण्ड डिज़ायर्स। आपकी संस्कृति के मूल में क्या वासना है? ये कथाएँ हमें कई दिशाओं में ला सकती हैं। लेकिन मैंने प्रारम्भ में भाषा और नाम-रूप की बात की थी।

जब हम कहते हैं—शिल्प, शास्त्र, संस्कार, पुरुषार्थ, स्मृति, कल्पना, वासना! ये शब्द क्या हैं? ये सब हमारी परम्परा के शब्द हैं। ये आपकी जिस तंत्री को छूते हैं तो आपके भीतर कुछ होता है। यह इसलिए होता है कि हर भाषा, नाम, रूप में हमारा अपना कुछ है। हमें अन्यों के बारे में भी पूछना चाहिए उनका शिल्प क्या था? उनके शास्त्र क्या थे? संस्कार की विधि क्या है? इत्यादि-इत्यादि।

तब आपके पास अपने सवाल होंगे और चीज़ों को देखने का अपना एक ढ़ंग होगा।

तो मैं केवल इतना कह कर यह चर्चा समाप्त करूँगा कि भारतीय संस्कृति की आज बहुत लोग खोज कर रहे हैं। टी.वी. पर एक आता था—भारत की खोज। भारतीयों को भी भारत की खोज करने की ज़रूरत पड़ गई। पर खोज की उतनी ज़रूरत नहीं है। थोड़ी बहुत है, तो इससे ज़्यादा इस बात की है कि हम अपना ऋण उस परम्परा के प्रति महसूस करें और अपनी शक्ति के अनुसार उसे और आगे ले जाएँ। ❑

कलाएँ एवं मानवीय ज्ञानात्मक विधाएँ

अबू सैयद अय्यूब भारत में एक सर्वाधिक नागर और सुसंस्कृत विचारक हैं, लगभग जीवन पर्यन्त समान रूप से, वे दर्शन एवं साहित्य में रुचि रखते रहे हैं। भारत में कदाचित्, कुछ ऐसे ही विचारक हैं जो दर्शन एवं साहित्य दोनों में वही संवेदनशीलता रखते हैं जैसे कि प्रोफेसर अयूब ने अपने जीवन एवं विचार में रखी। वास्तव में इनके जादवपुर व्याख्यान जिनका शीर्षक 'कविता एवं सत्य' था। इनके विचारों के दो केन्द्रीय सरोकारों को एक ही Focus (केन्द्र) में ले आते हैं। तथापि किस प्रकार का सत्य कला प्रदान करती है एवं वह विज्ञान के सत्य से, और दर्शन के सत्य से किस प्रकार सम्बन्धित है। क्या सत्य विविध प्रकार के हैं, अथवा यदि सत्य एक है, तब हम किस प्रकार यह दावा करते हैं कि विज्ञान एवं कला दोनों ही हमें सत्य प्रदान करते हैं?

बेशक, विज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं होती। केवल विविध विज्ञान होते हैं। इसी प्रकार कलाओं के अतिरिक्त कला नाम की कोई चीज नहीं होती। लेकिन केवल विविध कलाएँ हैं। तब क्या हमें यह मानना चाहिये कि न केवल ऐसी कोई वस्तु है जो वैज्ञानिक सत्य है वरन् यह भी कि यदि कलायें किसी प्रकार के सत्य को सम्प्रेषित करती है तब ऐसा कोई विशिष्ट कलात्मक सत्य भी नहीं है। सत्य तब विविध या कहें इस मत में बहुआकारिक/बहुरूप लिये होगा। यहाँ सत्य जो हम विज्ञान में पाते हैं एवं वह जो हम कलाओं में पाते हैं न केवल भिन्न होंगे वरन् हमें सत्य को पुनः अनेक, व्यापक क्षेत्रों में विभक्त करना होगा। अतः सत्य की शुद्ध, परम अखंडित एकत्वता अनेक टुकडों में विखंडित हो जायेगी तथा प्रत्येक खंड अपने में परमत्व का दावा करने लगेगा और शायद उस एकत्व की माँग लिये होगा जिसमें प्रत्येक अंश अपने ढ़ंग से एकत्व चाहेगा।

यहाँ तक कि विज्ञानों में भी ऐसी कोई चीज नहीं है जो कोई ज्ञानपिंड़ की एकत्वता (समग्रता) हो और सत्य होने का दावा कर सके। जहाँ तक कलाओं की बात है स्वयं अयूब ने कविता, साहित्य एवं कला की अन्य विधाओं के बीच मौलिक भेद किया है। लेकिन यदि हम इस भेद को स्वीकारते हैं, तब क्या हमें यह

भी मानना होगा कि असाहित्यिक कलाओं में सत्य को सम्प्रेषित नहीं किया जाता। एवं वह केवल साहित्य ही संभवतया सत्य के बोध हेतु विज्ञान से स्पर्धा कर सकता है। ऐसा बोध जिसे अनेकों ने विज्ञान से अधिक गंभीर एवं गहरा माना है।

असाहित्यिक कलाओं की स्वीकृति से तत्काल समस्या उठती है कि यदि इनमें कोई अर्थ हैं तो हम उनके अर्थ की व्याख्या किस प्रकार करें, कारण कि उनकी भाषा किसी भी प्रकार से निर्देशात्मक नहीं होती। यह वाक्य पूर्णत: सत्य प्रतीत नहीं होता जैसे कि प्रथम तो, 'भाषा' पद बहुत कम रूप से लिखित अथवा बोलचाल की भाषा तक सीमित होता है। दूसरे, इसके अतिरिक्त ऐसी वस्तुएँ भी हैं जैसे प्रतिनिध्यात्मक कलाकृतियाँ और अनुकृति (नकल) परक नृत्य जो अपना अर्थ उससे ग्रहण करती हैं जिसकी ओर उनका संकेत होता है। पुन: यदि अर्थ की आकारिक संरचना जैसा कुछ न भी हो उस अर्थ में जो हमें प्राय: मौखिक एवं लिखित भाषा में मिलता है, तो भी निश्चय ही ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें ऐसे अवयवों अथवा इकाईयों के रूप में निर्दिष्ट किया जा सके जिनके माध्यम से कलाकृति की समग्र/सम्पूर्ण रचना का निर्माण हुआ हो। आखिरकार इस प्रकार की वस्तुएँ हैं जैसे संगीत में स्वरलिपि और रेखाचित्र (Painting) में रेखायें अथवा नृत्य में अंग संचालन आदि। वास्तव में यह भलीभांति प्रसिद्ध है कि समस्त कलायें प्रतीकों से युक्त हैं एवं यदि यह सत्य है तब उसकी चर्चा करना उचित है जिसे प्रतीक प्रतीकीकृत करता है।

कला का अनुकृति मूलक (अनुकृत्यात्मक) सिद्धान्त जिसका प्रारंभ (मूल) अरस्तू से रखा जाता है, इसी तथ्य मात्र पर आधारित है। लेकिन जैसा हर कोई जानता है अनुकरण का सिद्धान्त मुश्किल से कोई मदद कर सकता है क्योंकि किसी भी कलाकृति का सत्य कभी ही इस बात से निश्चित होता है कि वह कितने सही ढ़ँग से उसे प्रस्तुत करती है जिसकी वह प्रतिकृति होती है तथा जैसे अप्रतिनिधित्यात्मक (अप्रतिरूपात्मक) कला जैसी कोई वस्तु है जो किसी प्रकार भी किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती और जो कई स्थितियों में उससे बहुत-बहुत अधिक श्रेष्ठ होती है जो स्वरूपत: प्रतिरूपात्मक होती है, किसी कला की कृति का प्रतिनिध्यात्मक अर्थ का तथाकथित सत्य उससे विरोध रखेगा जिसे कलात्मक गुण कहा जाता है।

कुछ भी हो, प्रश्न उठता है कि हम क्यों उस सत्य को खोजें और चाहें जो कला कृति में सम्प्रेषित होता है उस सत्य की तुलना में जो वर्णनात्मक वाक्यों से प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, क्या कोई ऐसा सत्य है जो मात्र किसी कलाकृति से ही सम्प्रेषित 'किया' जाता है एवं किसी अन्य साधन से नहीं। बात यह है कि जब तक कि हम यह नहीं स्वीकारते कि ऐसे सत्य होते हैं जो केवल कलाकृतियों के माध्यम से ही सम्प्रेषित होते हैं, हम अधिक से अधिक यही कहेंगे कि जो सत्य

तथाकथित विज्ञानों से सम्प्रेषित किया जाता है वही किन्हीं या अन्य अर्थों में कला से भी सम्प्रेषित किया जाता है। तब क्या हम यह कहें कि कलाकृति में सम्प्रेषित सत्य वर्णनात्मक वाक्यों के किसी भी वर्ग से सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता वह चाहे कितना भी विषम अथवा जटिल हो? क्या इसका यह अर्थ है कि सत्य सदैव किसी के बारे में सत्य होता है, यह जिसके बारे में होता है वह स्वयं इतना भिन्न रूप रखता है कि उसका सम्प्रेषण भाषा के माध्यम से करना असम्भव है किन्तु तब क्या हम यह कहें कि समस्त कलाएँ उसी सत्य को सम्प्रेषित करने के विविध तरीके हैं। जिसका ऐसा स्वरूप है कि उसे भाषा के माध्यम से सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता, कम से कम भाषा के वर्णनात्मक प्रयोग में? क्या कलाएँ तब परस्पर अनुदित की जा सकती हैं, क्योंकि यह मानना इस स्थापना की अनिवार्य शर्त है कि वे सब उस सत् के बारे में सत्य को सम्प्रेषित करती हैं, जो स्वयं में उससे भिन्न है जो विज्ञानों में सम्प्रेषित होता है। बेशक, विज्ञानों में केवल वर्णनात्मक वाक्य ही होते हैं।

तो भी, यदि यह कहा जाय कि विविध कलायें परस्पर एक दूसरे पदों में अन्तर्भूत या अनुदित नहीं की जा सकतीं तब यह स्वीकार करना होगा कि कला जिस सत्य (सत्) को सम्प्रेषित करती है वह स्वयं में भिन्न स्वभाव का है। यह इतना हानिकारक नहीं है जितना प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है। कारण यह कि विज्ञान के क्षेत्र में भी, जो ज्ञान के क्षेत्र में आदर्शात्मक है, यह कहना कठिन है कि विज्ञान अनेक नहीं हैं अथवा यह कि एक विज्ञान के क्षेत्र के सार्थक सत्य कथनों का अन्य विज्ञान के सत्य कथनों में सदैव अनुवादित या अन्तर्भूत किया जासकता है। लेकिन, यदि यह विज्ञान के क्षेत्र में ही संभव नहीं है तब यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि कला के क्षेत्र में भी इसकी आशा की जाय। तथापि, यदि यह भी स्वीकारा जाय कि कलायें यथार्थ के बारे में सत्य को सम्प्रेषित करती हैं तब भी इसे तत्वत: उससे भिन्न होना होगा जो विज्ञान से सम्प्रेषित होता है। तो भी, सत्य और मिथ्या के मापदण्ड जो कलाओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त हो सकेगा, से सम्बन्धित प्रश्न तब भी बना रहेगा, यदि यह माना जाता है कि वे स्वयं अपनी सत्यता के दावे करतीं हैं।

कुछ भी हो कलायें उससे सम्बन्धित होती हैं जो स्वरूपत: काल्पनिक होता है, एवं प्रथम दृष्ट्या कल्पना सत्यता के कोई दावे करती प्रतीत नहीं होती। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि सत्यता वस्तुत: है क्या? प्रथम दृष्ट्या सत्यता इस रूप में परिभाषित की जा सकती है कि वह 'ही' सत् को प्रतिबिम्बित करती है अथवा अन्य शब्दों में उसका यथा रूप में प्रतिनिधित्व करती है। दूसरी ओर सत्यता को सदैव इस रूप में विचारा जाता है कि जो न केवल सत् को प्रकट (उद्घाटित) करता है वरन् उसमें रूपान्तरण भी करता है और गहरे अर्थ में उसका अतिक्रमण

भी करता है। ऐसा माना जा सकता है कि कला सभी तीनों क्रियाएँ प्रदर्शित करती है। यह माना जाता था कि वह सत् को चित्रित करती है किन्तु यह भी माना गया कि वह सत् को रूपायित करती है एवं उससे परे भी जाती है। इन तीनों क्रिया-कलापों को लेकर गहरा प्रश्न उससे सम्बन्धित है जो प्रतिबिम्बित किया जाता है, रूपान्तरित किया जाता है एवं जिससे परे जाया जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर शायद एक अन्य प्रश्न के पूँछने पर प्राप्त किया जा सके। उदाहरणार्थ प्रश्न का यह रूप हो सकता है, क्या उस दशा में कला हो सकती है, जब मनुष्य केवल प्रतिबिम्बात्मक चेतना हो अथवा वह हो, जिसे भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में साक्षी चेतना, दृष्टा कहा जाता है। दूसरी ओर इसी प्रश्न को हम इस तथ्य के संदर्भ में पूछ सकते थे, कि क्या कोई कला हो सकती है, यदि मनुष्य केवल जानने वाला या करने वाला, होता यानि दृष्टा या कर्त्ता होता। स्पष्ट है कि इन दोनों ही पूर्व मान्यताओं पर कला जैसी कोई चीज नहीं होती। कला उस सत्ता को पूर्वापेक्षित करके चलती है जो स्वरूपत: भोक्ता हो यानि ऐसी सत्ता जो दु:ख भोगता है, आनन्दित होता है और मानवीय जीवन के दु:ख-सुख, भोगता हुआ उसके साथ जीती है। अत: कला उस जगत् के सत् को चित्रित करती है, रूपान्तरित करती है एवं उससे परे जाती है, अतिक्रमण करती है जो सत् अनुभव के द्वारा जीया गया होता है उसके खुशी व गम, सुख व दु:ख के साथ। वह उस सत् से सम्बन्धित नहीं होता है जैसा कि वह अपने आप में है जो उससे पृथक एवं मनुष्य से स्वतन्त्र होता है जो शायद वह है जिसे विज्ञान समझने का प्रयास करता है, एवं उसे वह कम से कम किसी सीमा तक, प्रौद्योगिकी के द्वारा रूपान्तरित करना चाहता है।

यह कहा जा सकता है कि विज्ञान दवाईयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं की, जो हमारी चेतना पर सीधा प्रभाव डालती हैं, खोज से दु:ख को कम करने एवं सुख को बढ़ाने का प्रयास करता है। लेकिन फिर भी शायद एक सार्थक भेद है, इस अर्थ में कि कला न केवल अनुभूत सुख व दु:ख को प्रतिबिम्बित (चित्रित) एवं रूपान्तरित करती है अपितु उसे भी जिसे हम मानसिक रूप में जीया गया जीवन कहते हैं, उसके सार्थक रूप विन्यासों को जिन्हें केवल मनुष्य ही भोगता (आनन्दित) है। पशु शायद सभी प्राणी सुख व दु:ख भोगते हैं लेकिन केवल मनुष्य ही उन्हें जटिल सार्थक संरचनाओं जिसका अपना स्वयं का महत्व/सार्थकता है, अंग के रूप में भोगता है।

कल्पनाओं का सत्य तब कला का सत्य होता है एवं सामान्य रूप से यह समझने में कि साहित्य का सत्य क्या होता है, हम अपने से पहले यह प्रश्न पूछें कि अपने आप में कल्पना का क्या सत्य होता है। विज्ञान में कल्पना का कार्य दोनों ही स्तर पर भलीभांति जाना जाता है, सैद्धान्तिक उपागम के रूप में एवं उपकरणों के

निर्माण में प्रयुक्त प्रौद्योगिकी के कौशल के स्तर में जो प्रकृति तथा यहाँ तक कि मानवीय परिवेश में परिवर्तन में सहायक है। कला में कल्पना का कार्य प्रमुख रूप से ऐसा माना जाता है कि जो हमें सत्य प्रदान नहीं करता अथवा न ही सत्य की खोज में सहायक है, किन्तु प्रमुख रूप से उस जगत् के सृजन में है जो इस जगत् से स्वरूपत: भिन्न है जो वास्तविक रूप से वहाँ है। एक अर्थ में यह एक द्वितीय स्तर पर जगत् का सृजन है जो स्वयं अपने आप में सत् है किन्तु जिसका वास्तविक जगत् से अप्रत्यक्ष निगमन के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है। तब भी, कला जगत् में कल्पना का सत्य अभिव्यक्त होता है। वे असंदिग्ध साक्ष्य हैं जिन्हें शायद विज्ञान के प्रारूपों के सादृश्य देखा/विचारा जा सकता है। ऐसा माना जा सकता है कि वे दो रूपों में मनुष्य के भाव जगत् से सम्बन्धित होते हैं, एक में मनुष्य उसे उन पदों में रूपायित करता है जिनसे वह स्वयं को समझ पाये एवं दूसरे उस दिशा में जिसे वह सार्थक एवं वांछनीय मानता है। उस दिशा में उसे रूपान्तरित करने में किसी कलाकृति के साक्षात्कार से चेतना का रूपान्तरण होता है; वह दृष्टा को न केवल वास्तविक परिदेश से दूर ले जाता है वरन् सूक्ष्म रूप से उसे परिवर्तित भी करता है।

एक गहन स्तर पर, सत् से कला के सम्बन्ध को काल से उसके सम्बन्ध के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। काल सामान्य रूप से अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के मूलभूत त्रैत में समझा जा सकता है जिसमें मनुष्य जीता है। एक ओर वह अतीत की स्मृति में लीन रहता है जबकि दूसरी ओर वह भविष्य की पूर्व आशाओं में जीता है। वर्तमान जो कि अतीत एवं भविष्य के बीच समानभागिता की निरन्तर गतिमानता का बिन्दु है जहाँ वह ऐसा कुछ अस्तित्व में लाने के लिये कर्म करता है, जिसे वह चाहता है अथवा उसे रचता है जिसे दूसरे अपने प्रयोजनों के लिये, उसे रचने को बाध्य करते हैं, तथा उसे अपने प्रयोजनों की पूर्ति (साक्षात्कार) के लिये अपना साधन बनाते हैं तो भी, यदि परिस्थितियाँ उसे थोड़ा भी अवसर प्रदान करती हैं तब वह या तो भविष्य के स्वप्न देखता है अथवा अतीत की स्मृतियों में खो जाता है अथवा वर्तमान की अनुभूति में निमग्न हो जाता है।

घृणा एवं प्रेम, इच्छा एवं लोभ, आशा एवं भय से युक्त भावों का समस्त जीवन, मनुष्य को उसी प्रकार घेरे रहता है जैसे वह वायु जिसमें वह साँस लेता है एवं उसे वह सन्दर्भ प्रदान करता है जिसमें वह अपना जीवन जीता है एवं जिसमें वह अर्थ तथा महत्व प्राप्त करता है। यही वह जगत् है जिसका कला चित्रण (प्रतिबिम्बित) करती है, यदि वह सत् को चित्रित करती हो तो। नाटक व्यक्ति के जीवन के रूप में उद्घाटित होता हो, अथवा वह ऐतिहासिक मंच पर खेला गया हो जहाँ समूहों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती है किन्तु आधारभूत रूप से यह

प्रतिबिम्बित करती है और केवल इसी जीवन को प्रतिबिम्बित करती है। इस प्रकार कला का सत्य व्यक्ति के द्वारा जीये गये जीवन के सत्य से सम्बन्धित होता है जिसे विज्ञान कभी पकड़ नहीं सकता, न ही शायद विज्ञान उसे पकडने या समझने की आकांक्षा का प्रयास करता है।

दूसरी ओर सृजन की कल्पना शक्ति मनुष्य के जीये गये जीवन का अनुभूत अर्थों के संरचनाओं में एक बिम्ब प्रस्तुत करता है, जो एक ओर तो यह उस जीवन को चित्रित करता है जिसे अधिक व्यक्ति वस्तुत: जीते है तथा दूसरी ओर किसी कला की कृति में विद्यमान अन्तर्भूत अर्थों के रूपों की दिशा में रूपान्तरण को प्रभावित करते हैं। अत: कला की कृति को स्वयं में विभाजित किया जा सकता है उनसे जो अधिकांश जीवन को उसके जीये गये जीवन के रूप में ग्रहण करने का प्रयास करती है अथवा उनमें जो एक आदर्श रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करती है जो होना चाहिये या हो सकता है। यह निश्चित अर्थ में विज्ञान के प्रारूपों से भिन्न होता है जो प्राकृतिक सत् को किन्हीं आदर्शों की दिशा में कभी भी रूपान्तरित नहीं करता। सिवाय इसके प्रौद्योगिकी अप्रत्यक्ष रूप से जो स्वयं में बिना ऐसे ही मानवीय प्रयोजनों के सन्दर्भ के मुश्किल से रूपायित की जाती है जिन्हें वह सिद्ध करना चाहती है।

गहरा प्रश्न फिर भी इस समस्या से है कि क्या विविध कलाएँ स्वयं को दर्पणीकरण (बिम्बीकरण) तथा रूपान्तरीकरण के कार्यों में विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित करती हैं अथवा क्या ये केवल एक ही सत् को पकड़ने के विविध तरीके हैं? बेशक, प्राकृतिक विभाजन, विशिष्ट अर्थ में होगा एवं ऐन्द्रिक अनुभव जो इससे निगमित होगा जिसे किसी विशिष्ट कला में ही महत्ता दी जाती है। तो भी, जैसा कि समस्त अनुभव मन द्वारा मानवीय अर्थों में व्याख्यायित किये जाते हैं, अर्थ या सार्थकता की संरचनाएँ कहा जा सकता है, विविध ऐन्द्रिक माध्यमों में निष्ठित अथवा व्याख्यायित होती हैं। यह हो सकता है कि प्रत्येक कला स्वरूपत: एक विशिष्ट प्रकार के अर्थ अथवा मूल्य की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त होती हो, जैसा कि सूसेन लेंगर ने अपनी पुस्तक Feeling and Form में कहा है। तो भी, किसी एक माध्यम में अन्तर्भूत अर्थ को किसी दूसरे माध्यम के अर्थ में अनुवाद करना अथवा सादृश्य ढूँढ़ना कठिन लगता है। यद्यपि सोरोकिन ने इसे अपनी Social and Cultural Dynamics में पूरी तरह विस्तार से रखा है एवं स्पेन्गलर ने संस्कृति के विविध सृजनों के बीच के ऐसे क्षेत्रों में, जो परस्पर इतने दूर हैं जैसे संगीत एवं गणित की अनुरूपताओं को साहसिक सूझबूझ से व्यक्त किया है।

अयूब, तो भी, कलाओं के सम्बन्ध में न केवल सत्यता के प्रति चिन्तित है, वरन् नैतिकता के प्रति भी। कलाओं में सत्यता का प्रश्न प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को

सोचने के लिये बाध्य करता है जो गंभीर रूप से उनसे सम्बन्धित है और ऐसा नैतिकता को लेकर भी। अयूब ने इस विषय पर अपनी प्रसिद्ध बंगला पुस्तक 'आधुनिकता और रवीन्द्रनाथ' में विचार किया है। तो भी, प्लेटो से लेकर उन सभी ने जिन्होंने इस समस्या पर सोचने का प्रयास किया है या तो कला को उन प्रयोजनों के निमित्त माना है जो उसके स्वयं के नहीं हैं अथवा इसका मूल्यांकन उन मापदण्डों के प्रकाश में किया है जो उसके अपने रूप से अपरिचित होते हैं बजाय सामाजिक रूपान्तरण को पूछने के स्थान पर, जो स्वयं सौन्दर्य की समझ को महत्व देने का प्रयास करती है विशेषकर उसके उस पक्ष में जिसमें मनुष्य कालिकता को कम से कम कुछ क्षणों के लिये जीतने देती है अथवा उसका अतिक्रमण करने, वे इसका प्रयोग अपने प्रयोजनों की प्राप्ति हेतु साधन के रूप में करते हैं। कालिंगवुड़ ने बहुत पहले ही कला एवं शिल्प को परस्पर एक समझने की भूल को उजागर किया था, फिर भी यह मूल भेद समाप्त होना कठिन है। दूसरी ओर, अयूब इस बात के लिये जागरूक थे कि श्रेष्ठतम रूप में कला एक दृष्टि दे सकती है जहाँ नैतिक क्षेत्र में त्रासदियाँ सुन्दर/सौन्दर्यता की अभिव्यक्ति का रूप ले लेती है जो सब को समन्वित कर देता है। लेकिन क्या यह दृष्टि कर्म की धार को भोंटा (Blunt) एवं उसकी वृत्ति को भोंटा कर देती है? अथवा क्या यह मनुष्य को कर्म के प्रति सूक्ष्म संवेदनशीलता एवं अधिक गहरे खुलेपन के साथ वापिस लाती है जिसमें वह किसी विशिष्ट परिस्थिति की विविध बारीकियों के प्रति, अधिक प्रासंगिक तरीके से, उत्तरदायित्व उन्मुख करती है?

तो भी, अन्तिम मूल्यों को परम बनाने का प्रयास तथा अन्यों को मात्र साधन मानना शायद उतना ही गलत है जितना यह सोचना कि अन्तिम मूल्यों के बीच कोई अभ्यान्तरिक सामंजस्य है और यह कि इनके बीच कोई गंभीर विवाद है अथवा कभी उठ भी सकता है। तथापि, क्योंकि लगभग सभी मूल्य युगपत् रूप से विषयी एवं विषय को निर्दिष्ट करते हैं, उन्हें इस रूप में ले सकते हैं कि वे किसी सार्थक रूप में इन दोनों के ही स्वरूप को अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित करते हैं। अत: यह पूछना प्रासंगिक होगा कि क्या एक ओर विश्व के स्वरूप के बारे में कलाओं के द्वारा अनिश्चित रूप में तथा दूसरे, मनुष्य के स्वरूप के विषय में यही वह रास्ता है जिस पर चलना होगा यदि कलाओं के संज्ञानात्मक कार्यों को समझना है। साथ ही सत्य के रूपान्तरता एवं अतिक्राम्यता के पहलू को ध्यान में रखे बिना उसी रूप में जिसमें सूचनात्मक अथवा वर्णनात्मक पक्ष को लिया जाता है। यह सदैव शंका का विषय होगा कि कलाओं का कोई ज्ञानात्मक कार्य नहीं होता।

कलाओं के समझने की निकटतम दृष्टि इस पक्ष से केवल तभी प्राप्त होती है जब हम उसे धर्म के सम्बन्ध में देखें। धर्म भी शुद्ध काल्पनिक सत्ताओं से प्रारंभ

होता है, और परिणाम में यदि वह सफल हुआ तो, मूर्त वास्तविक मानवीय व्यक्तित्व में रूपान्तरित होता है जिसे कदाचित् कला की चरितार्थ कृति के रूप में देखा और समझा जाता है। वह एक कारण है कि जब हम किसी सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के समक्ष आते हैं तभी समस्त प्रश्न समाप्त हो जाते हैं एवं वह व्यक्ति अपने आप में अपना औचित्य प्रतीत होता है और किसी सीमा में जगत् का औचित्य भी। लगभग इसी से मिलते-जुलते अर्थ में, कलाकृति स्वयं अपना औचित्य प्रतीत होती है और साथ ही किसी सीमा में उस जगत् को औचित्य प्रदान करती है, जिसमें हम अपने आप को पाते हैं। कल्पना का सत्य मानव जीवन का सत्य है एवं जो कोई इसकी अवहेलना करता है वह अपने चारों ओर जिस अमानवीय जगत् को देखता है उसी के सदृश बन जाने का जोखिम उठाता है।

❑

स्वपूरित भविष्य कथन एवं समाज का स्वरूप

स्वपूरित भविष्य कथन जिसे मरटॅन ने 1957 में प्रतिपादित किया था ऐसी विषय घटना प्रपंच (Phenomena) से सम्बन्धित है, जिसका समाज वैज्ञानिकों को भलीभांति ज्ञान होने पर भी उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना था। मेरा ख्याल है कि उसका एक कारण मरटॅन द्वारा उस सम्प्रत्यय को रूपायित करने के तरीके में है। वह लिखता है, "स्वपूरित भविष्य कथन प्रारंभ में किसी स्थिति की मिथ्या परिभाषा है जो एक नवीन व्यवहार को प्रेरित करती है, जो मिथ्या सम्प्रत्यय को सत्य बना देता है।'' (P. 423) यह स्वयं मरटॅन के मत में टामस थ्योरम का रूपायन है जो इस प्रकार रूपायित की गई है कि "यदि मनुष्य स्थितियों को यथार्थ परिभाषित करता है तो अपने परिणामों में वह यथार्थ होती है।''(P. 421)

स्पष्टत:, 'टामस थ्योरम' व्यक्त रूप से यह कथन नहीं करती है कि वह स्थिति जिसे मनुष्य यथार्थ परिभाषित करता है वह वास्तव में वैसी है या नहीं। लेकिन इस थ्योरम में यह निहित है कि वह स्थितियाँ जिनके लिये यह थ्योरम लागू की जाती है केवल वहीं है जहाँ परिस्थिति की यह पूर्वमान्य परिभाषा वस्तुत: असत्य होती है। इस अर्थ में मरटॅन का रूपायन इसी रूप में माना जा सकता है कि वह जो 'टामस थ्योरम' में निहित रूप में है उसे केवल व्यक्त रूप देती है। जहाँ पर लेकिन, 'नवीन व्यवहार प्रेरित' करने का प्रश्न है 'जो यथार्थ परिणामों से सम्बन्धित होता है', वहाँ स्थितियों की उन परिभाषाओं में जो मिथ्या है अथवा जो सत्य घटित होती है, के बीच कोई भेद प्रतीत नहीं होता। मरटॅन के रूपांकन पर यह अंकुश केवल उन्हीं अध्यायों पर है जहाँ स्थितियों की परिभाषा जो मिथ्या घटित होती है, अत:, विषय के विश्लेषण को अनुपयुक्त दिशा देती प्रतीत होती है।

मरटॅन ने स्वयं यह नोट किया है कि इस प्रकार की स्थिति प्रकृति-जगत् के सन्दर्भ में किये गये भविष्यकथनों में नहीं मिलती है। (सिवाय मनुष्य द्वारा प्राकृतिक प्रपंच के प्रौद्योगिकी के रूपांकन से) (P. 429), लेकिन उसने स्वयं ने इन भेदों जो एक तरफ प्रकृति जगत् की स्थितियों की भविष्यवाणी एवं दूसरी ओर सामाजिक सत् के जगत् के बीच के कारणों की तह को जानने का प्रयास नहीं किया। यदि वो ऐसा करते तो वह यह पता कर पाते कि जो भेद इन तथ्यों से